



CHETANA
International Journal of Education (CIJE)

Peer Reviewed/Refereed Journal
ISSN : 2455-8279 (E)/2231-3613 (P)

Impact Factor
SJIF 2025 - 8.445



Prof. A.P. Sharma
Founder Editor, CIJE
(25.12.1932 - 09.01.2019)

विद्यालय की भाषायी व्यवस्था और रचनात्मक शिक्षा का संकट

अश्विनी कुमार 'सुकरात'

Assistant Professor (Ad-hoc)

MV College of Education, University of Delhi

Email-ashwini.edu21@gmail.com, Mobile-9643273515

First draft received: 18.05.2025, Reviewed: 27.05.2025

Final proof received: 06.06.2025, Accepted: 20.06.2025

सार-संक्षेप

विद्यालयों की भाषायी व्यवस्था का विद्यार्थियों की सीखने की प्रक्रिया पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह लेख दर्शाता है कि जब स्कूल की शिक्षण भाषा बच्चों के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से अलग (जैसे अंग्रेजी या परिष्कृत मानक हिन्दी) होती है, तब शिक्षण अर्थपूर्ण नहीं रह जाता और बाल-केन्द्रित रचनात्मक एवं विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्र (Meaningful Student-Centered Creative and Critical Pedagogy) लागू करना लगभग असंभव हो जाता है। इस अध्ययन में गुणात्मक पद्धति से विभिन्न अंग्रेजी-माध्यम स्कूलों का अवलोकन एवं संबंधित पक्षों से साक्षात्कार किया गया। निष्कर्ष बताते हैं कि अंग्रेजी-माध्यम की स्कूली संस्कृति में विद्यार्थी अपने परिवेश की भाषा, लोकज्ञान और रचनात्मक गतिविधियों से कट जाते हैं। परिणामस्वरूप रटत (रटे-रटाए) आधारित अधिगम और ट्यूशन का बोझ बढ़ता है, जो राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 (NCF-2005) द्वारा प्रस्तावित बाल-केन्द्रित रचनात्मक शिक्षण के लक्ष्यों के विरुद्ध है। लेख अंत में निष्कर्ष निकालता है कि शिक्षा को सार्थक बनाने के लिए विद्यालयी भाषा को परिवेश की भाषा के अधिक निकट लाना आवश्यक है और इसी दिशा में नीतिगत एवं व्यवहारिक परिवर्तन की अनुशंसा की गई है।

मुख्य शब्द : विद्यालयी भाषाई परिवेश, माध्यम भाषा, विद्यार्थी-केन्द्रित शिक्षाशास्त्र, रचनात्मक एवं विवेचनात्मक शिक्षण, औपचारिक बनाम अनौपचारिक शिक्षा; राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 आदि.

प्रस्तावना

'शिक्षा' का सबसे सरल अर्थ है "सीखना-सिखाना"। यह सीखने-सिखाने की प्रक्रिया जीवन पर्यंत चलती रहती है और व्यक्ति के जन्म से ही प्रारम्भ हो जाती है। शिक्षा दो तरह से प्राप्त होती है: **औपचारिक शिक्षा** (जैसे स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय) और **अनौपचारिक शिक्षा** (परिवार, समाज, परिवेश से मिलने वाला सामाजिक शिक्षण)। अनौपचारिक शिक्षा वस्तुतः समाजीकरण की सतत प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति अपने संपूर्ण भौतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश से अंतःक्रिया करके ज्ञान, समझ, तर्क, विश्वास आदि अर्जित करता रहता है। पूरे जीवन में चलने वाली यह अनौपचारिक सीख निरंतर व्यक्ति की वैचारिक समझ की पृष्ठभूमि तैयार करती है और उसकी सोचने-समझने की क्षमता को गढ़ती है।

दूसरी ओर औपचारिक शिक्षा संस्थाएं - विशेषकर स्कूल - व्यक्ति को शिक्षित करने के मात्र सुगठित माध्यम के रूप में काम करती हैं। औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा के बीच समन्वय बेहद जरूरी है, क्योंकि **यदि स्कूल की शिक्षा व्यक्ति के परिवेश में मिलने वाली शिक्षा से तालमेल नहीं बैठ पाती, तो स्कूल का शिक्षण अर्थपूर्ण नहीं हो पाता**। इस संवाद के सेतु के रूप में भाषा की भूमिका सर्वाधिक अहम होती है। जब **अनौपचारिक शिक्षा के परिवेश की भाषा और औपचारिक विद्यालयी शिक्षा की भाषा अलग-अलग हों, तो दोनों के बीच संवाद टूट जाता है**। परिणामस्वरूप, **परिवेश की भाषा से विमुख औपचारिक शिक्षा कभी सार्थक हो ही नहीं सकती**। गैर-परिवेश की भाषा (अर्थात् ऐसी भाषा जो बच्चों के घरेलू-सामुदायिक परिवेश में प्रचलित नहीं) के माध्यम से दी गई शिक्षा न सिर्फ विद्यार्थियों को रटत (रटने पर आधारित) बना देती है, बल्कि शिक्षा के वास्तविक अर्थ को भी विकृत कर देती है। ऐसी स्थिति

में **विद्यार्थी-केन्द्रित रचनात्मक एवं विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्र** - जो कि शिक्षा को अर्थपूर्ण बनाने की दृष्टि से अत्यंत आवश्यक है - को लागू करना असंभव हो जाता है।

आज भारत में शिक्षा की गुणवत्ता एवं पद्धति पर पुनर्विचार हो रहा है, विशेषकर **राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 (NCF-2005)** के आलोक में, जिसने बाल-केन्द्रित, रचनात्मक एवं चिंतनशील शिक्षण पर जोर दिया है। NCF-2005 का मानना है कि सीखना तब प्रभावी होता है जब यह बच्चे के **सांस्कृतिक-भाषाई परिवेश** से जुड़ा हो और कक्षा में बच्चे की अपनी आवाज सुनी जाए। इसी प्रकार समझ और भाषा के गहरे संबंध को रेखांकित करते हुए एक अन्य **एनसीईआरटी रिपोर्ट** कहती है: "हमारी समझ अपनी भाषा में ही बनती है। भाषा के बिना समझ की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती"। इन सिद्धांतों के बावजूद, यदि विद्यालयों में बच्चों की अपनी मातृभाषा या लोक-बोली के बजाय कोई बाहरी भाषा (जैसे अंग्रेजी या परिवेश से कटी हुई तथाकथित "शुद्ध" हिन्दी) माध्यम बनती है, तो यह जानना महत्वपूर्ण है कि बच्चों की समझ और सीखने की दिनचर्या पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है।

इस शोध-लेख में उपर्युक्त पृष्ठभूमि के संदर्भ में हम **विद्यालय की भाषायी व्यवस्था** (खासकर अंग्रेजी माध्यम या परिवेश से कटी मानक भाषा) और **विद्यार्थी-केन्द्रित रचनात्मक एवं विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्र** के बीच के अंतर्संबंध का विश्लेषण करेंगे। विशेष रूप से, यह अध्ययन इस सवाल का जवाब खोजने का प्रयास करता है: **क्या सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से भिन्न भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने से विद्यार्थियों की सीखने की प्रक्रिया और दैनिक दिनचर्या प्रभावित होती है?** साथ ही, हम भारत की औपचारिक शिक्षा व्यवस्था को व्यापक सामाजिक-राजनैतिक संदर्भ में

विवेचित करते हुए अंग्रेजी माध्यम स्कूलों के प्रति बढ़ते जुनून के निहित कारणों का भी अन्वेषण करेंगे।

3.0 सैद्धांतिक पृष्ठभूमि (Theoretical Background)

शिक्षा की प्रक्रिया को समझने के लिए औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षण की भूमिका को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता। व्यक्ति का समय ज्ञान-निर्माण उसके घर-परिवेश, समुदाय एवं समाज में चलने वाली अनौपचारिक गतिविधियों के माध्यम से होता रहता है। परिवार, रिश्तेदारी, जाति, समुदाय, बाजार, मीडिया आदि सभी अनौपचारिक माध्यम व्यक्ति के सोचने-विचारने के तरीके पर गहरी छाप छोड़ते हैं। इनमें से कई गतिविधियाँ अचेत रूप से चलती रहती हैं और इनका कोई ठोस पाठ्यक्रम या संरचना भले न हो, लेकिन ये मिलकर व्यक्ति की मूलभूत समझ का निर्माण करती हैं। दूसरी ओर, औपचारिक शिक्षा संस्थानों (स्कूल, कॉलेज इत्यादि) की एक निश्चित संगठनात्मक योजना, पाठ्यक्रम और मूल्यांकन प्रक्रिया होती है। औपचारिक संस्थाओं में क्या पढ़ाया जाएगा, कौन पढ़ाएगा, क्यों और कैसे पढ़ाया जाएगा, कब और किसको पढ़ाया जाएगा – इन प्रश्नों के उत्तर काफी हद तक पूर्वनिर्धारित और स्पष्ट होते हैं। इसके विपरीत अनौपचारिक शिक्षा में ऐसी पूर्वयोजना नहीं होती, वहाँ सीखना सहज दैनिक जीवन के अनुभवों से चलता है। संक्षेप में, अंतर केवल सहज ज्ञानाबद्ध ढाँचे का है; **सीखने की वास्तविक प्रक्रिया में औपचारिक शिक्षा की भूमिका तभी प्रभावी हो सकती है जब वह अनौपचारिक (परिवेशीय) शिक्षा के साथ तालमेल बिठाए।**

भाषा वह सेतु है जो औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा के बीच संवाद स्थापित करता है। व्यक्ति अपनी मातृभाषा या स्थानीय भाषा के जरिए परिवार और समाज से बुनियादी अवधारणाएँ एवं जीवन-मूल्य सीखता है। यदि स्कूल की भाषा बच्चे की इस परिवेश की भाषा से मेल नहीं खाती, तो बच्चे की दो दुनियाओं – घर की और स्कूल की – में दूरी पैदा हो जाती है। ऐतिहासिक रूप से भारत की औपचारिक शिक्षा में यह दूरी औपनिवेशिक काल में और बढ़ी, जब अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर स्थानीय भाषाओं एवं जनसंवाद की उपेक्षा की गई। औपनिवेशिक दौर में ब्रिटिश शासन ने पश्चिमी मूल्यों को सीधे अंग्रेजी माध्यम से थोपने का काम किया, बिना किसी लोकसंवाद के। उस समय स्थापित स्कूली व्यवस्था का उद्देश्य 'विवेकशील एवं विचारशील नागरिक' तैयार करना नहीं था, बल्कि 'आज्ञाकारी औपनिवेशिक नागरिक' तैयार करना था। दुर्भाग्यवश, आजादी के बाद भी काफी हद तक वही मॉडल जारी रहा और औपनिवेशिक ढर्रे पर बने स्कूल-कॉलेज ही मुख्यधारा की औपचारिक शिक्षण संस्थाओं के रूप में स्थापित हो गए।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के विपरीत, वर्तमान में जोर "औपनिवेशिक नागरिक" बनाने वाली शिक्षक-केन्द्रित एवं पुस्तक-केन्द्रित शिक्षा पद्धति से हटकर "विद्यार्थी-केन्द्रित रचनात्मक एवं विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्र" पर है। विद्यार्थी-केन्द्रित रचनात्मक/चिंतनात्मक शिक्षाशास्त्र का मकसद ऐसे नागरिक तैयार करना है जो आलोचनात्मक सोच रखते हों, सृजनशील हों और अपने अनुभवों से सीखकर ज्ञान का निर्माण कर सकें। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 (NCF-2005) इसी दिशा में एक नीतिगत पहल है, जो शिक्षा को बाल-केन्द्रित बनाने, शिक्षण में रचनात्मक तरीकों को अपनाने, तथा समुदाय व जीवन-अनुभवों से जुड़े अधिगम पर बल देती है। NCF-2005 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "स्थानीय परिवेश केवल भौतिक-प्राकृतिक नहीं होता, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक भी होता है। हर बच्चे के घर में उसकी अपनी आवाज होती है। स्कूल के लिए आवश्यक है कि कक्षा में भी वह आवाज सुनी जाए। समुदायों का सांस्कृतिक स्रोत प्रचुर होता है – लोककथाएँ, लोकगीत, चुटकुले, कलाएँ आदि के माध्यम से हम स्कूल की भाषा और ज्ञान को समृद्ध बना सकते हैं।" यह सिद्धांत शिक्षा में स्थानीय भाषा-बोली, लोक-साहित्य और सांस्कृतिक संदर्भों को शामिल करने की वकालत करता है। साथ ही, NCF-2005 उत्पादक कार्यों और शारीरिक श्रम को भी पाठ्यचर्या का हिस्सा बनाने पर जोर देता है, ताकि कक्षा का ज्ञान जीवन के वास्तविक अनुभवों से जुड़ सके।

उपर्युक्त सैद्धांतिक आधार हमें बताता है कि **यदि शिक्षा को सचमुच अर्थपूर्ण एवं रचनात्मक बनाना है तो स्कूल की भाषा, परिवेश की भाषा से कटी हुई नहीं हो सकती।** जब तक व्यापक समाज-व्यवस्था (राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश) सीखने के रचनात्मक तौर-तरीकों के अनुरूप नहीं होती, तब तक पाठ्यचर्या में सतही बदलाव लाने से खास प्रगतिशील अंतर नहीं आता। दूसरे शब्दों में, बाल-केन्द्रित

रचनात्मक शिक्षाशास्त्र को सफल बनाने के लिए जरूरी है कि स्कूल का वातावरण, विशेषकर भाषायी माध्यम, बच्चे के सांस्कृतिक परिवेश से मेल खाए। इस सैद्धांतिक समझ के आलोक में, आगे हम अपने अनुसंधान की पद्धति और प्रमुख निष्कर्षों पर विचार करेंगे, जिनसे पता चलता है कि वर्तमान स्कूलों में भाषायी असंगति ने रचनात्मक शिक्षण को किस प्रकार प्रभावित किया है।

4.0 अनुसंधान पद्धति (Research Methodology)

इस अध्ययन में गुणात्मक शोध पद्धति अपनाई गई। शोधकर्ता ने विभिन्न प्रकार के निजी अंग्रेजी-माध्यम विद्यालयों का चयन कर उनका गहन अवलोकन किया, जिनमें महानगरीय क्षेत्र के प्रतिष्ठित स्कूलों से लेकर कस्बाई/ग्रामीण परिवेश में स्थित अंग्रेजी-माध्यम स्कूल शामिल थे। इन विद्यालयों में शिक्षा के वातावरण, दिनचर्या और शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया का प्रत्यक्ष निरीक्षण किया गया। इसके साथ ही, स्कूलों के प्राचार्यों, अध्यापकों, अभिभावकों और विद्यार्थियों से अनौपचारिक साक्षात्कार एवं बातचीत के माध्यम से जानकारी जुटाई गई। बातचीत के दौरान विद्यालय के भाषाई माहौल, विद्यार्थियों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के प्रति स्कूल के रवैये, तथा रचनात्मक शिक्षण-पद्धतियों के अमल से जुड़ी चुनौतियों पर विशेष प्रश्न पूछे गए।

शोधकर्ता ने विद्यार्थियों के दैनिक समय-विनियोग का विश्लेषण करके यह समझने का प्रयास किया कि औपचारिक स्कूली घंटों के बाहर उनका समय कैसे व्यतीत होता है। विशेषकर, इस बात की पड़ताल की गई कि क्या अंग्रेजी माध्यम स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों को विद्यालय के बाद पर्याप्त समय अपने स्थानीय परिवेश (परिवार, समुदाय, लोकाचार) के साथ बिताने को मिलता है या उनका अधिकांश समय होमवर्क, ट्यूशन और अतिरिक्त कक्षाओं की भेंट चढ़ जाता है। इस हेतु बच्चों की 24 घंटे की दिनचर्या को घटकों में विभाजित कर के अध्ययन किया गया।

इसके अतिरिक्त, शिक्षा संबंधी नीतिगत दस्तावेजों और साहित्य का अध्ययन अनुसंधान का अभिन्न अंग रहा। NCF-2005 तथा एनसीईआरटी की भाषा व अधिगम संबंधी रिपोर्टों का विश्लेषण कर उन्हें जमीनी हालात से तुलनात्मक रूप से परखा गया। साथ ही, स्कूलों के बाहर तेजी से बढ़ती ट्यूशन संस्कृति के संदर्भ में मार्क ब्रे (Mark Bray) द्वारा यूनेस्को के लिए लिखित अध्ययन ("*छाया शिक्षा*") या *Shadow Education* पर शोध की समीक्षा की गई। इस साहित्य समीक्षा ने औपचारिक शिक्षा की कमियाँ (विशेषकर भाषा संबंधी अवरोध) और *शैडो एजुकेशन* (ट्यूशन/कोचिंग उद्योग) के बीच संबंध को समझने में मदद की। कुल मिलाकर, यह अनुसंधान बहु-स्तरीय स्रोतों – क्षेत्रीय अध्ययन, साक्षात्कार एवं प्रासंगिक साहित्य – के मिश्रित विश्लेषण पर आधारित है, जिससे विद्यालय की भाषायी व्यवस्था और बाल-केन्द्रित रचनात्मक शिक्षाशास्त्र के अंतर्संबंध पर समग्र दृष्टि विकसित की जा सके।

5.0 मुख्य विषयवस्तु (Body)

5.1 अनुसंधान अवलोकन और परिणाम: शोध के दौरान जब उपरोक्त सिद्धांतों को वास्तविक विद्यालयों में परखा गया, तो कुछ भिन्न ही तस्वीर उभरकर सामने आई। अंग्रेजी माध्यम स्कूलों में जो शैक्षिक वातावरण देखने को मिला वह राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा की परिकल्पना से बिल्कुल भिन्न था। पाया गया कि इन स्कूलों की संरचना में विद्यार्थियों के सांस्कृतिक ज्ञान और लोकभाषिक अनुभवों के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। बच्चों के अपने परिवेश की जो बोलियाँ और व्यवहारिक ज्ञान उनके व्यक्तित्व का हिस्सा हैं, अंग्रेजी-माध्यम की स्कूली व्यवस्था में उनका मूल्य नगण्य है। यद्यपि शिक्षा में शामिल सिद्धांत यह कहते हैं कि बच्चे अपने परिवेश से बहुत कुछ सहजता से सीखते हैं, वास्तविकता यह थी कि अंग्रेजी माध्यमिक स्कूल इस सहज सीख को प्रोत्साहित नहीं करते, बल्कि उसे हाशिए पर डाल देते हैं।

अध्ययन दर्शाता है कि कई अंग्रेजी-माध्यम स्कूल सामाजिक एवं भाषाई दृष्टि से एक प्रकार के **एकरूपी द्वीप** बन गए हैं। मध्यम और उच्च-मध्यम वर्ग के इन निजी स्कूलों में पूरा का पूरा "क्राउड" (स्कूल से जुड़ा जन-समुदाय) अपेक्षाकृत विशेषाधिकार प्राप्त पृष्ठभूमि का होता है। आमतौर पर ऐसे स्कूलों के प्रबंधन को यह स्वीकार करने में भी संकोच है कि किसी **आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग (EWS)** या ग्रामीण पृष्ठभूमि के बच्चे उनके स्कूल में आते हैं। उदाहरणस्वरूप, कुछ प्रतिष्ठित अंग्रेजी स्कूलों के प्राचार्यों ने अनौपचारिक बातचीत में दावा किया कि "*देहाती बोली बोलने वाले बच्चे एवं अभिभावक हमारे स्कूलों में आते ही नहीं हैं*"; या यदि आते भी

हैं तो "वो यहाँ टिक नहीं पाएंगे"। वस्तुतः, कई स्कूल यह मानकर चलते हैं कि जो अभिभावक अंग्रेजी माहौल और उच्च-शहरी संस्कृति से ताल्लुक नहीं रखते, उनके बच्चे इस माहौल में फिट नहीं होंगे। (दिलचस्प है कि कुछ स्कूल अपने यहां अनिवार्य रूप से "उच्च" सामाजिक पृष्ठभूमि के लोगों की मौजूदगी को ही "युद्ध क्राउड" मानते हैं, हालाँकि इसमें वे भूलवश स्कूल के चतुर्थ-श्रेणी कर्मचारियों को शामिल करना भूल जाते हैं।) स्कूलों की इस वर्गीय एकरूपता से संकेत मिलता है कि उनकी भाषायी संस्कृति भी आम जन-परिवेश से कटी हुई, अभिजन (elitist) मानकों पर आधारित है।

5.2 विद्यालयों में अंग्रेजी माहौल बनाने के प्रयास: अंग्रेजी माध्यम स्कूलों के प्रशासक एक सुसंगत अंग्रेजी माहौल बनाने के लिए हरसंभव प्रयास करते दिखे। कई कस्बाई इलाकों के निजी स्कूल शहरों जैसी छवि बनाने हेतु शहरी सुविधाएँ जुटाते हैं – मसलन, दूर-दराज से आने वाले शिक्षकों के लिए विशेष "कैम्प" (वाहन) की व्यवस्था करना, शहरी क्षेत्रों से आने वाले अध्यापकों के लिए स्थानीय हॉस्टल की व्यवस्था, आदि। कुछ ग्रामीण क्षेत्र के स्कूल प्रबंधक भर्ती के समय सावधानी बरतते हैं कि कहीं ग्रामीण लहजे वाले शिक्षक न रख लिए जाएँ। एक प्राचार्य एफने स्पष्ट कहा, "स्कूल में हम ग्रामीण क्षेत्र से भले ही योग्य लोग हों, उन्हें टीचिंग स्टाफ के लिए नहीं लेते। यहाँ तक कि पाँचवीं-छठी कक्षा के बाद बीच सत्र में देहाती पृष्ठभूमि के किसी बच्चे का एडमिशन भी नहीं लेते, क्योंकि दोनों ही स्थितियों में स्कूली परिसर की भाषा प्रभावित होती है।" अर्थात् प्रबंधन जानबूझकर ऐसे कारक हटाता है जो विद्यालय परिसर में स्थानीय परिवेश की भाषा के प्रवेश का कारण बन सकते हैं। कई अंग्रेजी-स्कूल प्रबंधकों की मान्यता है कि स्कूल की USP (विशिष्ट पहचान) उसके कैम्पस का अंग्रेजी वातावरण ही है, और इसे बनाए रखने के लिए "साम, दाम, दंड, भेद" – हर प्रकार की नीति अपनाने से भी वे नहीं हिचकते।

विद्यालयों में स्थानीय भाषाओं/बोलियों के प्रति दृष्टिकोण भी अत्यंत नकारात्मक पाया गया। अनुसंधान के दौरान जब शोधकर्ता ने एक अंग्रेजी माध्यम स्कूल की प्राचार्या (प्राचार्य सी) से यह मुद्दा उठाया कि क्या स्कूल परिसर में बच्चों की जन-बोलियाँ (स्थानीय ग्रामीण बोलियाँ) के प्रयोग की कोई गुंजाइश है, तो उन्होंने दो-दूक उत्तर दिया – "मैं अपने स्कूल में देहाती बोलियों में बात करने की बिल्कुल इजाजत नहीं देती"। एक अभिभावक अजित ने इस बात की पुष्टि करते हुए बताया, "वे (स्कूल) हमारी भाषाओं को 'बैड लैंग्वेज' (Bad Language) कहते हैं। अगर स्कूल में बच्चा अपनी बोली बोलता है तो पैरेंट्स-टीचर मीटिंग (PTM) में हमें बुलाकर डॉट पडती है कि वह 'रूढ़ भाषाओं' से स्कूल को गंदा कर रहा है। (हमें कहा जाता है) उसे सभ्य भाषा सिखाएँ" यह अनुभव दर्शाता है कि स्कूल प्रशासन स्थानीय भाषाओं को न सिर्फ असभ्य और अयोग्य मानता है, बल्कि उसके प्रयोग पर दंडात्मक रवैया भी अपनाता है। परिणामस्वरूप, छात्रों के मन में अपनी मातृभाषा के प्रति हीनभावना उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

विद्यालयों की इस नीति का दूरगामी प्रभाव छात्रों और उनके परिवारों पर देखा गया। एक अभिभावक (जिन्होंने अपनी बेटी की मातृभाषा ही अंग्रेजी बताई) ने साझा किया कि उनकी बच्ची जब अपने ताया-ताई (चाचा-चाची) को देहाती (ग्रामीण) बोली में बात करते सुनती है तो उन्हें टोक कर कहती है कि "ऐसी बैड लैंग्वेज का प्रयोग बंद करो"। एक अन्य अभिभावक अजित ने बताया कि उनके परिवार में हाल ही में यह फैसला लिया गया कि वे अब घर में अपनी पारिवारिक भाषा यानी 'बैड लैंग्वेज' (जैसा स्कूल उन्हें कहता है) का प्रयोग नहीं करेंगे। यह बेहद चिंताजनक तथ्य है कि विद्यालय के प्रभाव से घर के भीतर भी माता-पिता अपनी ही भाषा-बोली का त्याग करने को प्रवृत्त हो रहे हैं। इसका अर्थ है कि अंग्रेजी माध्यम स्कूल सिर्फ स्कूल परिसर में ही नहीं, विद्यार्थियों के पारिवारिक-सामुदायिक परिवेश में भी भाषायी शुद्धिकरण (linguistic sanitization) लागू करवा रहे हैं।

स्कूलों में सांस्कृतिक गतिविधियों का भी एक दोहरा रूप सामने आया। प्राचार्य सी ने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति दी कि उनके मतानुसार "आदिवासियों में तो दिमाग ही नहीं होता"। इसी संदर्भ में एक प्रगतिशील वकील राजेश त्यागी (सोशललिस्ट वर्कर पार्टी से जुड़े) का कथन उद्धृत किया गया कि "आदिवासियों एवं देहातियों की बोली में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान पढ़ाया ही नहीं जा सकता"। ऐसे पूर्वाग्रह स्कूल नेतृत्व में कितने गहरे पैठे हैं, यह इन बयानों से स्पष्ट है। यदि कोई प्रधानाचार्य स्वयं

बच्चों के बीच इस प्रकार की बात कहता है, तो विद्यार्थियों की अपने लोक-ज्ञान और विरासत के प्रति दृष्टि कैसी बनेगी? जन-बोलियों को हिकारत की नजर से देखने का चलन स्कूलों की सांस्कृतिक गतिविधियों में भी परिलक्षित होता है। लोक-संस्कृति के लिए स्कूल में स्थान शेष है तो बस गणतंत्र दिवस, स्वतंत्रता दिवस, हिंदी दिवस जैसे अवसरों पर होने वाले नाममात्र के प्रदर्शनी कार्यक्रमों तक। एक अंग्रेजी माध्यम स्कूल की प्राचार्या ने बताया कि "Independence Day, Republic Day और हिंदी दिवस पर हम बच्चों को शुद्ध हिंदी में बोलने की इट देते हैं"। अर्थात् साल के गिने-चुने दिन, वह भी रस्म अदायगी के तौर पर, स्कूल अपनी भाषा नीति को थोड़ा ढीला छोड़ता है – मानो स्थानीय/राष्ट्रीय भाषा भी किसी विशेष अनुमति की मोहताज हो।

5.3 विद्यार्थियों की शैक्षणिक दिनचर्या और अतिरिक्त बोझ: अंग्रेजी माध्यम स्कूलों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के समय के उपयोग का पैटर्न भी इस शोध में गंभीर चिंता का विषय बनकर उभरा। आम धारणा यह है कि महानगरों के निजी स्कूल सुविधाजनक समय-सारणी अपनाते हैं – हफ्ते में पाँच कार्य दिवस, एवं सप्ताहांत पर अवकाश – जिससे बच्चों को आराम व अन्य गतिविधियों का समय मिल सके। वास्तव में, मेट्रोपॉलिटन शहरों के कुछ नामी स्कूल सप्ताह में केवल 5 दिन कक्षाएं चलाते हैं, और उनके विद्यार्थियों के लिए "वीकएंड" एक विशेष सुखद अवसर होता है। उन दिनों ये बच्चे स्कूल से बाहर अपने माता-पिता व मित्रों के साथ मनोरंजन (जैसे मॉल, वाटर-पार्क, सिनेमाघर इत्यादि) में समय बिताते हैं। उनके लिए सप्ताहांत का मतलब होता है परिवार व दोस्तों के साथ "एंजॉय" करना। हालाँकि, इस "एडवेंचर" या "एंजॉयमेंट" का भी एक खास तरह का आधुनिक-नगरीय परिवेश होता है, जिसमें बच्चे अपने स्थानीय सामाजिक वातावरण से फिर भी दूर ही रहते हैं (मॉल, थीम पार्क, विदेश यात्राएँ आदि)।

इसके विपरीत ग्रामीण व कस्बाई इलाकों के निजी अंग्रेजी माध्यम स्कूलों में स्थिति बिल्कुल भिन्न पाई गई। अनेक कस्बाई स्कूलों में सप्ताह के सातों दिन पढ़ाई होती है – यानि रविवार को भी अवकाश नहीं। कुछ जगह रविवार को नियमित स्कूल के स्थान पर लम्बी "Extra Class" (अतिरिक्त कोचिंग) चला दी जाती है। सप्ताह के अन्य दिनों में भी रोजाना स्कूल के बाद 1-2 घंटे की अतिरिक्त कक्षाएँ चलना आम बात है। उदाहरणस्वरूप, हरियाणा के पलवल जैसे कस्बे में स्थित ब्रांडेड निजी स्कूलों में 6 घंटे का नियमित स्कूल प्रायः 8-10 घंटे तक फैल जाता है – 6 घंटे नियमित + 2 घंटे एक्स्ट्रा क्लास, और रविवार को 4 घंटे की क्लास। इस प्रकार कई ग्रामीण बच्चों के लिए हफ्ते में सातों दिन स्कूल या कोचिंग से भरे होते हैं। इन स्कूलों में पढ़ने वाले कुछ बच्चों को तो रोजाना स्कूल आने-जाने में ही 2-4 घंटे बस में बिताने पड़ते हैं। इस तरह अगर गणना करें, तो दैनिक रूप से 6-8 घंटे स्कूल, 2-4 घंटे सफर, 2-4 घंटे एक्स्ट्रा क्लास/ट्यूशन – बच्चों का लगभग सारा जागृत समय शैक्षणिक दबावों तले गुजरता है।

सोने पर सुहागा यह कि इस भारी-भरकम स्कूल दिनचर्या के बाद भी अधिकांश छात्रों को अतिरिक्त ट्यूशन का सहारा लेना पड़ता है। ग्रामीण क्षेत्र हो या शहरी, अंग्रेजी माध्यम स्कूलों के बच्चों के लिए आजकल स्कूल के बाहर ट्यूशन पढ़ना एक सामान्य आवश्यकता बन गया है। शोधकर्ता के अध्ययन क्षेत्र में शायद ही कोई ऐसा अंग्रेजी स्कूल का छात्र मिला जो नियमित ट्यूशन न जाता हो। यह प्रवृत्ति एक महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा करती है – "ये ट्यूशन आखिर क्यों?"। बच्चों को स्कूल में 8-10 घंटे बिताने के बाद भी ऐसी क्या कमी रह जाती है जिसे पूरा करने के लिए उन्हें शाम को 2-4 घंटे की अतिरिक्त कोचिंग क्लास ज्वाइन करनी पड़ती है? यह समस्या सिर्फ स्थानीय नहीं, बल्कि वैश्विक स्तर पर उभर रही है। यूनेस्को द्वारा प्रकाशित मार्क ब्रे की पुस्तक 'प्रतिछाया शिक्षा – शिक्षा प्रणाली को एक चुनौती' (Shadow Education) में ट्यूशन की समस्या को गंभीर शैक्षणिक चुनौती के रूप में पहचाना गया है। ब्रे के अनुसंधान के अनुसार पूर्वी एशिया के देशों में तेजी से ट्यूशन का जाल फैल रहा है तथा यह एक समानांतर बाज़ार-आधारित शिक्षा व्यवस्था का रूप ले रहा है, जिस पर सरकार का कोई नियंत्रण नहीं है। इस पुस्तक के निष्कर्ष बताते हैं कि ट्यूशन की व्यवस्था मौजूदा औपचारिक शिक्षा प्रणाली की खामियों का ही प्रतिफल है। अर्थात् जहाँ स्कूल शिक्षा बच्चों की जरूरतें पूरी नहीं कर पाती, वहाँ शिक्षा की "छाया प्रणाली" (ट्यूशन/कोचिंग) पनपने लगती है।

अब सवाल उठता है कि हमारे देश में ट्यूशन का ऐसा चलन क्यों बढ़ रहा है? इस "शैडो एजुकेशन" के मूल कारण क्या हैं? **राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005** ने भी विद्यार्थियों पर बढ़ते हुए काम के बोझ और ट्यूशन प्रवृत्ति पर चिंता जताई है। NCF-2005 के दस्तावेज में पृष्ठ 97, 101, 109, 139 आदि पर ट्यूशन की समस्या का उल्लेख है, और यह माना गया है कि ट्यूशन के बोझ का कारण मुख्यतः स्कूली पाठ्यक्रम और गृहकार्य का अत्यधिक भार है। NCF के विशेषज्ञों की राय में पाठ्यचर्या को सरल बनाकर तथा होमवर्क का भार घटाकर ट्यूशन की आवश्यकता कम की जा सकती है। लेकिन इस शोध में जब व्यावहारिक हालात का विश्लेषण किया गया, तो तस्वीर कुछ अलग दिखाई दी। मार्क ब्रे की तरह यहाँ भी यह बात पुष्ट हुई कि वास्तविक समस्या पाठ्यक्रम की कठिनाई से अधिक **विद्यालय और छात्र के परिवेश के बीच के अंतर** में निहित है। **शोधकर्ता** का मानना है – और हमारे क्षेत्रीय अध्ययन के निष्कर्ष भी यही दिखाते हैं – कि ट्यूशन का मूल कारण यह है कि स्कूलों में पढ़ाई उस भाषा में हो रही है जो बच्चों के सांस्कृतिक परिवेश की भाषा नहीं है। स्कूलों में प्रयोग होने वाली मानक भाषा (चाहे वह हिंदी हो या अंग्रेजी) बच्चों की समझ में बाधा उत्पन्न करती है, क्योंकि वह उनके घर-समुदाय की बोली से भिन्न होती है। जब बच्चा कक्षा में सिर्फ रटें हुए शब्द सुनता है जिन्हें वह अपने अनुभव से नहीं जोड़ पाता, तो घर आकर उसे गृहकार्य और पाठ रटने के लिए बाहरी मदद (ट्यूशन) की जरूरत पड़ती है।

NCF-2005 के शिक्षा शास्त्रियों द्वारा सुझाए गए समाधान और ज़मीनी सच्चाई के अंतर को समझाने के लिए एक उदाहरण पर गौर करें। एनसीएफ विशेषज्ञों ने सुझाव दिया कि "बच्चे ट्यूशन पर ना जाकर स्वतंत्र रूप से किताबें पढ़ें"। यह सलाह सुनने में अच्छी लगती है, परंतु व्यवहार में कितनी यथार्थवादी है? शोधकर्ता ने इस पर टिप्पणी करते हुए इसे उसी तरह की नसीहत कहा है "जैसे कभी फ्रांस की रानी ने फ्रांस की भूखी जनता से कहा था – 'रोटी नहीं खा सकते तो केक खाओ'।" यानी ज़मीनी हालातों की अनदेखी कर दी गई नेक सलाह। दरअसल, जिन बच्चों को अपनी पाठ्यपुस्तक की भाषा ठीक से समझ नहीं आती, वे बिना सहायता के स्वतंत्र अध्ययन कैसे कर सकते हैं? यदि माता-पिता स्वयं उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं या अंग्रेजी से अनभिज्ञ हैं, तो बच्चा मुश्किल पाठ्य-सामग्री को खुद कैसे आत्मसात करेगा? यही कारण है कि माता-पिता चाहते हैं कि कोई ट्यूटर या कोचिंग इस कमी को पूरा करे। शोध के दौरान कई अभिभावकों की कठिनाइयाँ व प्रयास भी सामने आए। एनसीएफ-2005 में यहाँ तक कहा गया है कि ट्यूशन पर भेजने वाले माँ-बाप के खिलाफ़ कड़ी कार्रवाई की जानी चाहिए, लेकिन वास्तविकता यह है कि बहुत-से अभिभावक मजबूरी में या बच्चों के भविष्य की चिंता में ट्यूशन का सहारा लेते हैं। एक मामले में पिता ने अपनी सीमित आय का आधा हिस्सा बच्ची की पढ़ाई (महंगे निजी अंग्रेजी स्कूल तथा ट्यूशन) पर खर्च करना शुरू कर दिया, केवल इसलिए कि वे अपने बच्चे को "उच्च समाज" के बराबर ला सकें। एक अन्य उदाहरण में एक माँ, जो स्वयं सरकारी अध्यापिका थीं, ने अपनी बेटी को अंग्रेजी बोल-चाल सिखाने के लिए अलग से एक निजी शिक्षिका रखी। ऐसे माता-पिता को शिक्षाविदों द्वारा दोषी ठहराना या "सजा" देने की बात कहना तर्कसंगत नहीं लगता। हकीकत यह है कि वे वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की कमियों को झेल रहे हैं और उन्हीं कमियों की भरपाई के लिए पूरक उपाय ढूँढ रहे हैं।

5.4 विद्यालयी शिक्षा बनाम राष्ट्रीय पाठ्यचर्या लक्ष्यों का अंतर: हमारे अवलोकन में यह महत्वपूर्ण तथ्य उभर कर आया कि शिक्षा विभाग द्वारा घोषित नयी नीतियों (जैसे सतत एवं व्यापक मूल्यांकन प्रणाली – CCE) और वास्तविक कक्षा-कक्ष की प्रवृत्तियों में ज़मीन-आसमान का फर्क है। उदाहरण के तौर पर, केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (CBSE) ने जब से CCE लागू की, कागज़ों पर मूल्यांकन पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन किए गए और दावा किया गया कि अब "पाठ्यचर्या बाल-केन्द्रित, रचनात्मक एवं विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्र पर आधारित है"। परन्तु हकीकत यह थी कि अंग्रेजी माध्यम स्कूलों में विद्यार्थी पुराने ढर्रे पर ही रटने पर जोर दे रहे थे। हमारे अध्ययन के दौरान एक रोचक टिप्पणी एक स्कूल के चपरासी ने की: उसने सीबीएसई के बोर्ड प्रश्नपत्रों और स्कूल के अपने आंतरिक प्रश्नपत्रों की तुलना करते हुए कहा – "स्कूल के टेस्ट में तो ये बच्चे बिना गर्दन हिलाए उत्तर लिख आते हैं (शायद क्योंकि उन्हें उत्तर

पहले से रटाए हुए होते हैं), मगर बोर्ड के परीक्षा में इन्हें मेहनत करनी पड़ती है" (संदर्भ हेतु)। बेशक, सिद्धांततः CCE की मूल्यांकन प्रणाली लागू है और अध्यापकों के प्रशिक्षण व पाठ्यचर्या दस्तावेजों में विद्यार्थी-केन्द्रित रचनात्मक शिक्षा-शास्त्र की बातें लिखी गई हैं। **लेकिन यदि कक्षा में विद्यार्थी विषयों को समझने के बजाय महज़ याद करने पर जोर दे रहे हैं, तो शिक्षा पद्धति में वास्तविक परिवर्तन नहीं हुआ है।**

शोधकर्ता ने पाया कि अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाई का एक सीधा असर यह हुआ कि **स्कूलों का शैक्षिक वातावरण बाल-केन्द्रित तो दूर, शिक्षक-केन्द्रित या विषय-केन्द्रित भी नहीं रह पाया, अपितु पूर्णतः "गाइड (सहायक पुस्तक)-केन्द्रित" बनकर रह गया है।** NCF-2005 के आधार पर पाठ्यचर्या लागू होने के बाद भी, कक्षा में वही पुरानी गाइड-बुक और कुंजी (guidebook) हावी है – अध्यापक एवं छात्र दोनों उसी के आसपास केंद्रित हैं। परिणामस्वरूप, "पकी-पकाई जानकारीयों को रटना ही ज्ञान-प्राप्ति कहा जाता है"। यानी विद्वत्-तंत्र द्वारा तैयार सामग्री को यथावत याद कर लेना ही शिक्षा माना जा रहा है, न कि छात्र का स्वयं अपने अनुभवों से नया ज्ञान गढ़ना। यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से **रचनात्मक एवं विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्र** की अवधारणा के प्रतिकूल है।

अब एक और महत्वपूर्ण पहलू पर गौर करें – **विद्यालय का औपचारिक पाठ्यक्रम बनाम अनौपचारिक परिवेशीय ज्ञान।** राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 इस बात पर जोर देती है कि बच्चे को स्कूल के बाहर जो कुछ अनौपचारिक शिक्षा मिलती है (परिवार से, परिवेश से, कार्य-व्यवसाय से), वह उसकी स्वाभाविक ज्ञान-सृजन क्षमता को विकसित करती है। दस्तावेज में उल्लेख है: "समाज में मिलने वाली अनौपचारिक शिक्षा, विद्यार्थियों में अपना ज्ञान स्वयं सृजित करने की स्वाभाविक क्षमता को विकसित करती है। इससे विद्यार्थियों में अपने आसपास के सामाजिक एवं भौतिक वातावरण से और विभिन्न कार्यों से जुड़ने की क्षमता बढ़ती है। इसके लिए ऐसे मौकों का मिलना बहुत ज़रूरी है, जिससे विद्यार्थी नई चीजों को आजमाएँ, जोड़-तोड़ करें, गलतियाँ करें और अपनी गलतियों को खुद सुधारें। यह बात भाषा सीखने के लिए भी उतनी ही सच है, जितनी किसी हस्तकौशल या विषय को सीखने के लिए।" (NCF-2005)। इसे आगे बढ़ाते हुए NCF-2005 कहता है कि कक्षा के ज्ञान को बच्चों के जीवन-अनुभव से जोड़ना आवश्यक है और **उत्पादक कार्यों** (प्रोजेक्टिव वर्क) को प्रभावी शिक्षण के माध्यम के तौर पर प्रयोग करना चाहिए।

परन्तु फील्ड में स्थिति उलट है। **अनुसंधानकर्ता को वर्तमान औपचारिक शिक्षा की उबाऊ व्यवस्था में कहीं भी "उत्पादक कार्यों" के लिए कोई स्थान नज़र नहीं आया, न ही किसी प्रकार का सम्मान।** स्कूल और समुदाय के बीच व्यवहारिक जीवन-कौशल का कोई आदान-प्रदान नहीं दिखा। एक ग्रामीण विद्यार्थी रमेश की माँ ने बताया, "कोई भी बालक भैंस के कार्यों में रुचि नहीं लेता, हर कोई इन कार्यों को एक-दूसरे पर टालने का प्रयास करता है"। यह कथन दर्शाता है कि बच्चे अपने पारिवारिक-पारंपरिक कार्यों से निरपेक्ष होते जा रहे हैं – वे उन्हें हेय समझते हैं या उनमें दिलचस्पी नहीं लेते। स्कूल की शिक्षा ने उनके मन में श्रम एवं स्थानीय कौशल के प्रति उदासीनता (या तिरस्कार) भर दी है। एक अभिभावक-अध्यापक बैठक (PTM) के दौरान तो स्वयं एक स्कूल शिक्षक ने ग्रामीण अभिभावक को व्यंग्यात्मक लहजे में कहा, "आप लोग अपने बच्चों से खेत में ही काम कराओगे, न्यार (चार) ही कटवाओगे? अरे इस तरह से अंग्रेजी-माध्यम की पढ़ाई नहीं होती। आपके बच्चे इंग्लिश में कमजोर हैं, इस कारण दूसरे विषय भी नहीं पढ़ पा रहे हैं। खेत और न्यार का काम छुड़वाकर ट्यूशन लगवाओ। इस तरह अंग्रेजी माध्यम नहीं चलता है।" इस तीखी टिप्पणी से दो बातें उजागर होती हैं: एक, स्कूल के शिक्षक भी मानते हैं कि अगर बच्चे परिवार के कार्यों में लगे रहेंगे तो अंग्रेजी पढ़ाई में पीछे रह जाएँगे – अर्थात् परिवार के परंपरागत काम शिक्षा में बाधा माने जा रहे हैं; दो, बच्चे अंग्रेजी में कमजोर हैं इसलिए अन्य विषय भी नहीं समझ पा रहे – यानि माध्यम की भाषा अवरोध है।

उपरोक्त विवरणों से कुछ अहम प्रश्न उठते हैं: **क्या स्कूल ने बच्चों में उत्पादक कार्यों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित किया है?** क्या हम उम्मीद कर सकते हैं कि 10-12 घंटे की थकाऊ स्कूली दिनचर्या के बाद बच्चे उत्साह से किसी रचनात्मक या घरेलू काम में हिस्सा लेंगे? एक चाय बेचने वाले का बच्चा यदि दिन भर स्कूल और होमवर्क में उलझा है, तो क्या वह अपने पिता के काम में हाथ बँटा पाता होगा? **क्या**

हमारी वर्तमान शिक्षा व्यवस्था समाज के 80-85% सीमांत (हाशिए के) वर्गों को सचमुच अपने अंदर समाहित कर पा रही है? क्या पारंपरिक उत्पादक कार्यों में जुटे परिवारों और उन परिवारों के बच्चों को वर्तमान स्कूल प्रणाली में उचित सम्मान मिला है – या भविष्य में मिलने की उम्मीद है? इन सवालों के जवाब फिलहाल नकारात्मक जान पड़ते हैं। हरियाणा के ही भिड़की गाँव के ग्रामीणों ने एक कड़वी सच्चाई बताई: *“प्राइवेट CBSE स्कूल जाने वाले बच्चे परिवार के किसी भी काम में सहयोग नहीं कर पाते – न खेती-बाड़ी में, न पशुओं की देखभाल में।”* इसका सीधा अर्थ है कि स्कूल इन बच्चों को अपने परिवेश से इस हद तक विमुख कर दे रहा है कि वे अपने परिवेश के कार्य-संपर्क और कौशल से जुड़ ही नहीं पाते।

5.6 मुख्य विषयवस्तु (Body) प्रमुख निष्कर्षों का सार: इन सारे अवलोकनों और सूचनाओं को समग्र रूप में देखें तो स्पष्ट होता है कि वर्तमान औपचारिक शिक्षा, विशेषकर अंग्रेजी माध्यम वाली, अपने चारों ओर एक ऐसा वातावरण बना रही है जो **बच्चों को उनके सामाजिक-सांस्कृतिक जड़ों से काटकर एक बनावटी शैक्षिक दायरे में बंद करता है।** स्कूल की भाषा, स्कूल की संस्कृति और स्कूल के मूल्य – तीनों मिलकर बच्चे के मन में यह स्थिर कर देते हैं कि *“अच्छी शिक्षा का मतलब है अंग्रेजी में रटना और अंग्रेजी में ही उसे दोहरा कर दिखाना।”* इस मानसिकता का सूचक एक अभिभावक ने यूँ किया: *शिक्षा = अंग्रेजी में रटना और अंग्रेजी में उगलना।* दुखद सत्य यह है कि ऐसी शिक्षा **ज्ञान और चेतना जागृत करने का माध्यम नहीं रह जाती, बल्कि “भाषाई शुद्धिकरण” (linguistic purification) का साधन बन जाती है।** स्कूल के माध्यम से बच्चे की भाषा को तथाकथित सभ्य/मानक रूप में ढालने की प्रक्रिया चलती है, जिसमें न केवल बच्चा अपनी मूल भाषा से विमुख होता है बल्कि उस भाषा में निहित पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचित ज्ञान से भी हाथ धो बैठता है। आदिवासियों के पारंपरिक वनोपधि ज्ञान पर काम कर रहे डॉ. दीपक आचार्य का कथन प्रासंगिक है: *“आदिवासियों का खत्म होना यानी ज्ञान की एक परंपरा का खत्म होना है।”* उन्होंने अपनी पुस्तक में बताया है कि आदिवासी अपनी स्थानीय भाषा में पीढ़ियों से ज्ञान संचित और संवर्धित करते आए हैं, नए-नए प्रयोगों द्वारा अपना हर्बल ज्ञान बढ़ाते रहे हैं। परंतु उनकी भाषा “शहरी मानक” नहीं, स्कूल के अनुरूप नहीं, इसलिए मुख्यधारा उन्हें *“बुद्धिहीन”* कहकर खारिज कर देती है। एक अंग्रेजी स्कूल के प्राचार्य ने साक्षात्कार में यहाँ तक कह दिया कि *“आदिवासियों के पास दिमाग ही नहीं होता।”* यह धारणा बच्चों तक भी संचारित होती है और वे अपनी ही सांस्कृतिक विरासत को हेय समझने लगते हैं।

वस्तुतः आज के **विशिष्ट अंग्रेजी स्कूलों** के संचालक भले अपनी मातृभाषा की अहमियत ठीक से न समझते हों, लेकिन *“भाषा को सांस्कृतिक वर्चस्व के औजार के रूप में कैसे प्रयोग करना है, यह उन्हें बखूबी आता है।”* स्कूल का घोषित लक्ष्य चाहे जो हो, अप्रDeclared रूप से उनका ध्येय बच्चों को एक खास *“उच्चवर्गीय शहरी अंग्रेजी बोलचाल और आचरण”* में ढालना है। यही कारण है कि यदि वास्तव में स्कूलों का लक्ष्य रचनात्मक तरीके से सीखना होता, तो गाँव के शिक्षक और गाँव की भाषा को भी स्कूल परिसर में सम्मानजनक स्थान मिलता – पर वास्तविक लक्ष्य *“संस्कृतिकरण” (acculturation to elite norms)* है, न कि रचनात्मक अधिगम।

यह प्रवृत्ति एकतरफा नहीं है; समाज के वंचित तबके भी इस सांस्कृतिक खेल में शामिल हो गए हैं। ग्रामीण अभिभावक स्वयं नहीं चाहते कि उनके बच्चे हिंदी या स्थानीय बोलियों का अधिक उपयोग करें। एक मामले में, हरियाणा के पलवल के “इंटरनेशनल” कहे जाने वाले एक स्कूल के प्राचार्य से बातचीत के दौरान एक ग्रामीण अभिभावक ने आते ही यह मांग रखी कि *“प्रिंसिपल साहब, मेरे बच्चों की भाषा को सुधारने पर विशेष ध्यान दें।”* यानि वे स्वयं चाहते हैं कि बच्चा अपनी देहाती भाषा छोड़कर शहरी/अंग्रेजी लहजा अपनाए। निजी अंग्रेजी स्कूलों में अपने बच्चों को भेजने वाले ग्रामीण मात-पिता भी अब अपने बच्चे का व्यक्तिव उसी अंग्रेजी-प्रधान उच्च वर्गीय संस्कृति के अनुरूप बनते देखना चाहते हैं। फरीदाबाद स्थित एक साधारण दर्जे के निजी स्कूल के प्राचार्य ने पुष्टि की: *“जिस माता-पिता के पास पैसा आ गया है, वो अपने बच्चों को ‘हाई सोसाइटी’ में भेजने लगा है और पैसे के बल पर विशिष्ट कहलाने वाले प्राइवेट स्कूलों में भेजने लगा है।”* उनके अनुसार नव-धनाइय अभिभावकों

का अपने बच्चों को इन तथाकथित विशिष्ट स्कूलों में भेजने का **प्रधान उद्देश्य “भाषा-शुद्धिकरण एवं संस्कृतिकरण” ही है।** अर्थात् पैसे के साथ एक सामाजिक होड़ शुरू हो जाती है – जो परिवार आर्थिक रूप से उभर रहा है वह अंग्रेजी स्कूल के जरिए अपने को उच्च वर्ग के करीब दिखाना चाहता है, और फिर उसके पड़ोसी-रिश्तेदार भी पीछे नहीं रहना चाहते। इस प्रकार अंग्रेजी माध्यम स्कूल एक *स्टेटस सिंबल* बन गया है, भले ही उसकी शिक्षा बच्चे को रचनात्मकता से दूर कर रही हो।

अंततः, हमारे अनुसंधान के सभी सूत्र एक ही निष्कर्ष की ओर इशारा करते हैं: **विद्यालय की भाषायी व्यवस्था (चाहे अंग्रेजी हो या परिवेश से कटी मानक हिन्दी) के रहते विद्यार्थी-केन्द्रित रचनात्मक एवं विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्र लागू नहीं हो सकता।** चुनाव दो में से एक का करना अपरिहार्य है – या तो ऐसी भाषा/माध्यम अपनाएँ जो बच्चों के परिवेश से कटी हो और शिक्षा को शिक्षक/पुस्तक-केन्द्रित रटत प्रक्रिया बना दे, या फिर शिक्षा का माध्यम बच्चों की अपनी लोक-भाषा/बोली को बनाएँ और उसे सचमुच बाल-केन्द्रित, रचनात्मक एवं विवेचनात्मक बना दें।

6.0 निष्कर्ष एवं विवेचना (Findings and Discussion)

6.1 निष्कर्ष सार: प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट होता है कि **विद्यालय की भाषायी नीति** और **शिक्षण की गुणवत्ता** के बीच सीधा संबंध है। जिन स्कूलों में शिक्षण की भाषा बच्चों की गृह-भाषा से भिन्न होती है – उदाहरणतः ग्रामीण परिवेश के बच्चों के लिए अंग्रेजी माध्यम – वहाँ *अर्थपूर्ण अधिगम* बाधित होता है। ऐसे वातावरण में विद्यार्थी विषय-वस्तु को समझने के बजाय शब्दों को रटने पर विवश हो जाते हैं, क्योंकि भाषा उनके सहज बोध की नहीं होती। परिणामस्वरूप, शिक्षा का अनुभव **विद्यार्थी-केन्द्रित** न रहकर एकपक्षीय और नीरस बन जाता है, और बाल-केन्द्रित रचनात्मक शिक्षाशास्त्र की संभावनाएँ क्षीण हो जाती हैं।

6.2 रचनात्मक एवं विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्र का अवरुद्ध होना: शोध के अवलोकनों ने दिखाया कि अंग्रेजी माध्यम स्कूल अपने परिसर में एक *कृत्रिम सांस्कृतिक द्वीप* रच लेते हैं जहाँ स्थानीय भाषाओं, लोकज्ञान और उत्पादक कार्यों के लिए कोई स्थान नहीं होता। विद्यालयों द्वारा मातृभाषा के प्रति अपनाई गई निषेधात्मक नीति ने बच्चों के मन में उनकी भाषा को हीन ठहराया और उन्हें अपनी सांस्कृतिक पहचान से दूर कर दिया। एक **विषम द्विभाषिक माहौल** (स्कूल में अंग्रेजी, घर में लोकभाषा) बच्चों के भीतर द्वंद पैदा करता है – स्कूल की पढ़ाई को वे जुबानी याद करने वाली, बोझिल क्रिया मानते हैं, जबकि उनके अनुभवसिद्ध ज्ञान और जिज्ञासा को विद्यालय में मान्यता नहीं मिलती। इससे वे पढ़ाई को जीवन से असंबद्ध मानने लगते हैं, जो रचनात्मक शिक्षण के मूल उद्देश्य – *ज्ञान का स्वतः सृजन और आलोचनात्मक चिंतन* – को विफल करता है।

6.3 ट्यूशन संस्कृति और भाषा का अंतर: एक अहम निष्कर्ष यह है कि **भाषा की दूरी (Language Gap)** ट्यूशन एवं कोचिंग संस्कृति को बढ़ावा देती है। जिन स्कूलों में माध्यम भाषा बच्चों के लिए अजनबी है, वहाँ बच्चे स्कूल के बाहर अतिरिक्त सहायता खोजते हैं। यह निष्कर्ष NCF-2005 की उस धारणा को चुनौती देता है जिसमें ट्यूशन का कारण केवल भारी पाठ्यक्रम/कार्यभार को बताया गया था। हमारे अध्ययन में सामने आया कि पाठ्य-सामग्री का मुश्किल होना उतनी बड़ी समस्या नहीं, जितनी उसके **अनुभव-विच्छिन्न भाषा** में होने से पैदा होती है। जब बच्चे की समझ अपनी भाषा में बनती है और स्कूल में उसी समझ को अनुवादित करके एक दूसरी भाषा (अंग्रेजी/शुद्ध हिन्दी) में ढाला जाता है, तो सीखने में स्वाभाविक रुकावट आती है। नतीजतन, अभिभावकों को कोचिंग/ट्यूशन का सहारा लेना पड़ता है ताकि बच्चा उस अपरिचित माध्यम में भी सफलता पा सके। मार्के ब्रे के शोध का सन्दर्भ लेते हुए, यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार पूर्वी एशिया में ट्यूशन *बाजार आधारित शिक्षा प्रणाली* बन गई है, भारत में भी अंग्रेजी-केन्द्रित स्कूली *मॉडल शैडो एजुकेशन उद्योग* को फलने-फूलने का मौका देता है।

6.4 नीतिगत दावों और वास्तविकता का भेद: चर्चा से यह पहलू भी उजागर हुआ कि शिक्षा सुधार संबंधी नीतिगत दस्तावेजों (जैसे NCF-2005, CCE) में जो आदर्श स्थापित किए गए हैं, विद्यालयी वास्तविकता उनसे कोसों दूर है। NCF-2005 जहाँ हर बच्चे की अपनी आवाज़ को कक्षा में स्थान देने एवं समुदाय के सांस्कृतिक संसाधनों को पढ़ाई में शामिल करने की बात करता है, वहीं अंग्रेजी माध्यम स्कूलों में *देहाती बोली बोलने तक की मनाही* है। NCF रटन्त अधिगम से हटकर

अनुभवजन्य अधिगम पर बल देता है, लेकिन हकीकत में बच्चे दिनभर के स्कूल और होमवर्क से इतने उबे होते हैं कि न तो उनके पास समय बचता है, न ही प्रोत्साहन कि वे किसी उत्पादक गतिविधि में हिस्सा लें। CCE के तहत प्रकल्प/गतिविधि-आधारित मूल्यांकन की नीति लाई गई, पर निरीक्षण में यही दिखा कि अंततः परीक्षा के लिए गाइड-बुक रट लेना ही सफलता की कुंजी माना जा रहा है। इन विरोधाभासों का केंद्रीय कारण फिर वही भाषा-दूरी है। जब तक भाषा का माध्यम ऐसा है जो बच्चे के लिए सहज नहीं, तब तक शिक्षाशास्त्रीय नवाचार कागजों पर रह जाते हैं।

6.5 सामाजिक दृष्टिकोण और सांस्कृतिक पूँजी: शोध परिणामों की विवेचना करते हुए यह समझ उभरती है कि अंग्रेजी माध्यम स्कूल केवल शैक्षणिक संस्थान नहीं, बल्कि सांस्कृतिक छाननी (filter) की तरह काम कर रहे हैं। ये स्कूल एक तरफ उच्चवर्गीय अंग्रेजी संस्कृति को प्रसारित करते हैं और दूसरी ओर स्थानीय संस्कृतियों को अनपढ़, असभ्य या पिछड़ा करार देकर हाशिए पर ढकेल देते हैं। सांस्कृतिक वर्चस्व स्थापित करने में भाषा को औजार बनाया जा रहा है – जिसे बौद्धिक शब्दों में सांस्कृतिक पूँजी के रूप में देखा जा सकता है। अंग्रेजी यहाँ महज भाषा नहीं, एक स्टेटस सिंबल है, उच्च वर्ग में प्रवेश का टिकट है। इसीलिए स्वयं ग्रामीण और सीमांत समुदायों के लोग भी अंग्रेजी शिक्षण को लेकर जुनूनी हो रहे हैं, अपनी भाषाओं को "बैड लैंग्वेज" मानकर त्यागने लगे हैं। यह रुझान दर्शाता है कि शिक्षा का मूल उद्देश्य – व्यक्ति को अपनी परिस्थितियों में सजग, सृजनशील और संवेदनशील बनाना – अंग्रेजी माध्यम की अंध-दौड़ में कहीं खो रहा है। बालक अपने परिवेश से कटकर एक ऐसे सांस्कृतिक सांचे में ढलने का प्रयत्न कर रहा है जिसे समाज में श्रेष्ठ माना जाता है, पर जिसकी कीमत उसकी रचनात्मकता, मौलिकता और आत्म-परिचय के नुकसान के रूप में चुकानी पड़ रही है।

6.6 रचनात्मक परिवेश के बिना रचनात्मक शिक्षण असंभव: इन निष्कर्षों पर चर्चा हमें पुनः उसी बिंदु पर लाती है जो प्रारंभ में प्रतिपादित किया गया था – विद्यार्थी-केन्द्रित रचनात्मक एवं विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्र को फलने-फूलने के लिए जिस मिट्टी-पानी की जरूरत होती है, वह है बच्चों का अपना भाषाई और सांस्कृतिक परिवेश। जब तक औपचारिक शिक्षा इस परिवेश से रसद नहीं लेगी, तब तक रचनात्मकता केवल पाठ्यचर्या की किताबों में लिखी सुंदर बातें बनकर रह जाएगी। हमारे अध्ययन के प्रकाश में, भाषा वह मूल सेतु है जो बच्चे की समझ को कक्षा के ज्ञान से जोड़ सकता है; यही सेतु जब टूटता है तो शिक्षा बोझ बन जाती है। ऊपर प्रस्तुत शोध से यह धुव सत्य सामने आया है कि अगर स्कूल की भाषा बच्चे की भाषा नहीं, तो ज्ञान "निर्माण" के बजाय सिर्फ "रटन" बन कर रह जाता है – और ऐसी हालत में शिक्षा-प्रणाली विवेकशील नागरिक नहीं, बल्कि आज्ञाकारी औपनिवेशिक छात्र तैयार करती है। आशय यह कि विद्यालयी भाषायी व्यवस्था में बदलाव किए बिना शैक्षिक सुधार के बड़े-बड़े लक्ष्य अधूरे रहेंगे।

6.7 समापन एवं अनुशंसा (Conclusion and Recommendations)
इस शोध के निष्कर्ष एक स्पष्ट संदेश देते हैं: यदि हम चाहते हैं कि विद्यालयों में सचमुच बाल-केन्द्रित, रचनात्मक एवं विचारप्रधान शिक्षण हो, तो स्कूल की भाषायी व्यवस्था को विद्यार्थियों के परिवेश की भाषा के समीप लाना होगा। वर्तमान स्थिति में दो विकल्पों के बीच स्पष्ट अंतर दिखाई देता है:

- पहला विकल्प है परिवेश से कटी भाषा (जैसे अंग्रेजी या शहरी परिष्कृत हिन्दी) में शिक्षा, जिसके साथ अनिवार्य रूप से शिक्षक/पुस्तक-केन्द्रित, रटत-आधारित शिक्षण जुड़ा हुआ है।
- दूसरा विकल्प है परिवेश की अपनी भाषा/बोली में शिक्षा, जो बालकों को सक्रिय सहभागी बनाती है और जहां रचनात्मक व चिंतनशील शिक्षण-दृष्टि फलीभूत हो सकती है।

शिक्षा जगत को इन दो में से अपने मार्ग का चुनाव करना है। भारत जैसे बहुभाषी देश में ऐसा चुनाव सरल नहीं, परंतु इसे टालना भविष्य की पीढ़ियों के साथ अन्याय होगा। यहाँ हम कुछ ठोस अनुशंसाएँ प्रस्तुत करते हैं:

1. माध्यम भाषा का लोकास्तरीयकरण: स्कूल की भाषा-नीति में आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता है। मातृभाषा या स्थानीय भाषा/बोली को कम-से-कम प्रारंभिक शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाया जाए। जिन राज्यों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी या अन्य भारतीय भाषा है, वहाँ पाठ्यक्रम में उस क्षेत्र की प्रमुख लोक-बोलियों के शब्द भंडार और मुहावरेदर्शी शामिल किए जाएँ। उदाहरण के लिए, यदि माध्यम हिन्दी है तो क्षेत्रीय बोलियों (ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि) की शब्दावली एवं सांस्कृतिक सन्दर्भों को अध्यापन में समुचित स्थान दिया जाए। इसी प्रकार मराठी, तमिल, कन्नड़, बंगाली जैसी सभी भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाते समय यह ध्यान रखा जाए कि उन भाषाओं की क्षेत्रीय उपबोलियों/लोकभाषाओं की विरासत कक्षा से बाहर न हो जाए। दुनिया के कई बड़े देशों ने एक मानक शिक्षा-भाषा स्थापित करने के बावजूद अपने भीतर की बहुलता को मान्यता दी है। चीन, रूस, जापान, फ्रांस जैसे देशों ने औपचारिक रूप से एक-एक राष्ट्रभाषा तो निर्धारित की है, लेकिन उसके साथ अपनी स्थानीय बोलियों एवं विविधताओं को समाहित करने की रणनीति भी अपनाई है। भारत को भी शिक्षा के माध्यम संबंधी नीतियों में ऐसी ही संतुलित दृष्टि की जरूरत है।

2. भाषायी शुद्धिकरण की अवधारणा का त्याग: वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में "शुद्ध" बनाम "अशुद्ध" भाषा का जो भेद पैदा किया जा रहा है, उसे खत्म करने के लिए नीति-निर्माताओं और शिक्षकों – दोनों को प्रयास करना होगा। सरकारी स्तर पर राजभाषा और शिक्षाभाषा से जुड़ी नीतियों में आमजन की भाषा के प्रति सम्मान झलकना चाहिए। एक राजभाषा अधिकारी के शब्दों में, उन पर निरंतर यह अनावश्यक दबाव रहता है कि वे हिन्दी में ऐसे परिष्कृत शब्द गढ़ें जो आम लोगों की समझ से परे हों। नतीजा यह कि शहरी-"मानक" हिन्दी को ही वास्तविक हिन्दी समझने की भूल की जाती है और हिन्दी को खुद उसकी क्षेत्रीय बोलियों से काट कर कमजोर किया जा रहा है। शिक्षा में ऐसी प्रवृत्ति घातक है। अनुशंसा है कि शिक्षा की भाषा को एक उपकरण (tool) मात्र मानने की दृष्टि बदलकर उसे समझ के निर्माण का सहकर माना जाए। विद्यार्थियों की भाषा या बोलियों को "रूड" या "गंदी" भाषा कहना बंद हो – इसके लिए शिक्षकों का संवेदनशीलता प्रशिक्षण आवश्यक है। साथ ही, पाठ्यपुस्तकों की भाषा को भी स्थानीय सन्दर्भों के अनुकूल, सरल तथा जीवंत बनाया जाए। भाषायी सरलता एवं निकटता से शिक्षा न सिर्फ सुगम होगी बल्कि बच्चे उस ज्ञान को आत्मसात भी कर पाएंगे।

3. सामुदायिक एवं सांस्कृतिक ज्ञान का पाठ्यक्रम में एकीकरण: शिक्षा को परिवेश से जोड़ने के लिए स्कूल पाठ्यचर्या में समुदाय के लोकज्ञान, इतिहास, कला, शिल्प आदि को समुचित स्थान दिया जाना चाहिए। NCF-2005 ने स्पष्ट कहा है कि स्कूल को हर बच्चे की घर की आवाज सुननी चाहिए और समुदाय के सांस्कृतिक खजाने (लोककथा, लोकगीत, चुटकुले, स्थानीय त्योहार, हस्तकला आदि) को कक्षा की समृद्धि के लिए उपयोग में लाना चाहिए। यह तभी संभव होगा जब शिक्षक-प्रशिक्षण में अध्यापकों को बहु-सांस्कृतिक परिवेश में शिक्षण के लिए तैयार किया जाए। शिक्षक अपने आसपास के समुदाय से सीखें, स्थानीय कहानियाँ, उदाहरण और प्रकल्प (प्रोजेक्ट) पढ़ाई में शामिल करें। सरकार और स्कूल प्रशासन को मिलकर ऐसे स्कूल-समुदाय साझेदारी कार्यक्रम चलाने चाहिए जहाँ बच्चों को कक्षा से बाहर स्थानीय व्यवसायों, शिल्पकारों, किसानों, आदि से सीखने के अवसर मिलें। इससे दो लाभ होंगे: एक, बच्चों में अपने परिवेश के प्रति गौरव एवं अपनत्व विकसित होगा; दो, जो उत्पादक कार्य (कृषि, पशुपालन, हस्तशिल्प आदि) अभी तिरस्कृत हैं उन्हें सम्मान मिलेगा और भावी पीढ़ी उन कौशलों को भी ज्ञान का हिस्सा मानेगी।

4. शिक्षा में वैविध्य और समावेशिता: हमारी शिक्षा व्यवस्था को सामाजिक व भाषिक रूप से हाशिए के 85% वर्गों के प्रति अधिक समावेशी होना होगा। इसका एक महत्वपूर्ण आयाम दोहरी भाषा शिक्षण (बाइ-लिंग्वल एजुकेशन) को प्रोत्साहित करना है, जहाँ अंग्रेजी एक विषय के रूप में तो पढ़ाई जाए पर माध्यम के रूप में शुरुआती कक्षाओं में मातृभाषा/स्थानीय भाषा ही हो। उच्च कक्षाओं में धीरे-धीरे द्विभाषिकता अपनाई जाए ताकि विद्यार्थी अंग्रेजी सीखें लेकिन समझ के विकास में मातृभाषा का सहारा न हूँ। इसके अलावा, ग्रामीण-क्षेत्र के शिक्षकों और शिक्षार्थियों के प्रति पूर्वाग्रह दूर करना जरूरी है। शिक्षक भर्ती में शहर या गाँव का भेद न रखा जाए, न ही बीच सत्र में ग्रामीण पृष्ठभूमि के छात्रों के प्रवेश पर अनौपचारिक पाबंदियाँ रहें। जब तक संरचनात्मक स्तर पर

ऐसे भेदभाव मिटाए नहीं जाते, स्कूल का भाषा-परिवेश अभिजात्य के दायरे में कैद रहेगा।

5. अभिभावकों और समाज में जागरूकता फैलाना: परिवर्तन सिर्फ स्कूल के भीतर से नहीं आएगा; इसके लिए सामूहिक सामाजिक जागृति की भी जरूरत है। अभिभावकों को समझाना आवश्यक है कि अपनी मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा को छोटा समझना बच्चों के सम्पूर्ण विकास के लिए हानिकारक है। "अंग्रेजी ही श्रेष्ठ है" – इस मानसिकता को बदलने हेतु जन अभियानों, कार्यशालाओं, मीडिया के माध्यम से संदेश जाना चाहिए। साथ ही, सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता सुधारकर और उनमें स्थानीय भाषा में उत्कृष्ट शिक्षण प्रदान करके एक प्रतिमान (model) प्रस्तुत करना होगा, ताकि लोग यह देखें कि मातृभाषा में भी बेहतरीन शिक्षा संभव है। जब तक समाज के निचले तबके को यह भरोसा नहीं होगा कि बच्चों को अपनी भाषा के साथ भी उज्ज्वल भविष्य मिल सकता है, तब तक निजी अंग्रेजी स्कूलों का आकर्षण कम नहीं होगा। इसलिए, नीति-निर्माताओं को शिक्षा व रोजगार – दोनों क्षेत्रों में स्थानीय भाषाओं के लिए स्थान सुनिश्चित करना चाहिए, ताकि अंग्रेजी का दबदबा संतुलित हो सके।

6.8 निष्कर्षतः शिक्षा का उद्देश्य केवल डिग्री या अंकों तक सीमित नहीं है, बल्कि अपने परिवेश से जुड़ा एक सजग, सृजनशील और आत्मविश्वासी नागरिक बनाना है। यह उद्देश्य उसी सूरत में फलीभूत होगा जब स्कूल अपने भाषायी वातावरण को बच्चों की दुनिया से जोड़ेंगे। आज भारत के विद्यालय एक चौराहे पर खड़े हैं: एक रास्ता हमें ऐसी व्यवस्था की ओर ले जाता है जहाँ बच्चा अपने सामुदायिक परिवेश से कटा हुआ एक औपचारिकता निभाने वाला विद्यार्थी बनता है, और दूसरा रास्ता वह है जहाँ शिक्षा बच्चे के जीवन और परिवेश से एकमेल खाती चलती है, उसे एक सोचने-विचारने वाला सक्रिय शिक्षार्थी बनाती है। शिक्षा जगत को दूसरे मार्ग को चुनने का साहस दिखाना होगा। यदि हम वास्तव में विद्यार्थी-केन्द्रित रचनात्मक एवं विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्र को साकार करना चाहते हैं, तो हमें स्कूल की भाषायी व्यवस्था में आमूल बदलाव लाना होगा – स्थानीय भाषाओं को यथोचित दर्जा और स्थान देकर। यही वह कुंजी है जो रटत आधारित उबाऊ शिक्षा से हमारे बच्चों को मुक्ति दिलाकर एक जीवंत, अर्थपूर्ण और समावेशी शिक्षा प्रणाली की ओर ले जाएगी।

6.9 संकल्पना मानचित्र

शिक्षा की भाषायी असमानता
— विद्यार्थियों में भय और चुप्पी
— अपनी भाषा को बोलने से डर
— PTM में डांट
— चुप रहना सीखना
— अभिभावकों की हीनता ग्रंथि
— बैड लैंग्वेज कहकर भाषा का त्याग
— बच्चों की अंग्रेजी के लिए द्यूटर
— शिक्षकों का औपनिवेशिक रवैया
— ग्रामीण बोलियों की मनाही
— आदिवासी को 'बुद्धिहीन' कहना
— रचनात्मकता का ह्रास
— गाइड-आधारित रटना
— द्यूशन निर्भरता
— स्कूल की सांस्कृतिक वर्चस्व नीति
— देहातियों का बहिष्कार
— शहरी अंग्रेजी छवि

अकादमिक घोषणा (Concise Scholarly Declaration)

यह शोध आलेख लेखक Ashwini Kumar द्वारा पूर्व प्रकाशित पुस्तक "English Medium System that is Angreji Raj" (2014) में प्रस्तुत अनुभवजन्य गुणात्मक आकड़ों का सैद्धांतिक शोध-परिमार्जन है। पर, यह किसी भी दृष्टि से इस पुस्तक की पुनः प्रस्तुति नहीं है। यह पुस्तक

भारत की शिक्षा व्यवस्था में अंग्रेजी के वर्चस्व को एक वैचारिक चेतनावनी और नीतिगत चुनौती के रूप में प्रस्तुत करती है। लेखक यह तर्क देते हैं कि 'इंग्लिश मीडियम सिस्टम' मात्र एक भाषाई विकल्प नहीं, बल्कि एक संविधान-समर्थित सांस्कृतिक सत्ता-तंत्र है, जो भारतीय संविधान की धाराओं – विशेषतः अनुच्छेद 343(1)(2), 348, 351, 120, 210 और 147 – से संचालित होता है। यही संवैधानिक समर्थन अंग्रेजी को न्यायपालिका, नौकरशाही, विश्वविद्यालयों और परीक्षाओं की भाषा बनाकर, स्कूलों में अंग्रेजी माध्यम को वैधता देता है। इस वैचारिक तंत्र को उद्घाटित करने हेतु लेखक ने बारह विशिष्ट अध्ययन विधाओं का उपयोग किया है:

- 1. प्रत्यक्ष साक्षात्कार:** शहरी सीमांत क्षेत्रों में विद्यार्थियों, अभिभावकों व शिक्षकों से संवाद।
- 2. क्षेत्रीय केस स्टडी:** दिल्ली से सटे फरीदाबाद, पलवल, होडल के फ्रिज इलाकों और औरंगाबाद (महाराष्ट्र) के शहरी इलाकों की भाषा-आधारित शिक्षा स्थितियाँ।
- 3. शैक्षणिक-सांस्कृतिक तुलना:** स्कूल की अंग्रेजी बनाम घर की भाषा के अंतर्विरोध।
- 4. प्रवासी भाषाई अनुकूलन (भारत):** राज्यांतर में स्थानीय भाषाओं को आत्मसात करने वाले विद्यार्थी।
- 5. प्रवासी आत्मसात अध्ययन (विदेश):** अंग्रेजी अप्रयुक्त देशों में प्रवासियों द्वारा स्थानीय भाषा अधिग्रहण।
- 6. अंग्रेजी दबाव और मानसिक त्रासदी:** प्रतिस्पर्धा से उत्पन्न तनाव और आत्महत्या जैसे परिणाम।
- 7. दैनंदिन व्यवहार अवलोकन:** भाषा व्यवहार, द्यूशन निर्भरता और पारिवारिक संवाद।
- 8. सांस्कृतिक पूँजी व आकांक्षा:** अंग्रेजी स्कूलों को सामाजिक प्रतिष्ठा मानने की प्रवृत्ति।
- 9. राष्ट्रीय आँकड़ा विश्लेषण:** NUEPA, NCF, Census से प्राप्त डाटा का विश्लेषण।
- 10. मीडिया विश्लेषण:** सोशल मीडिया व समाचारों द्वारा प्रचारित अंग्रेजी श्रेष्ठता विमर्श।
- 11. संवैधानिक दस्तावेज़ विश्लेषण:** अनुच्छेद 343, 348, 351 आदि की आलोचना।
- 12. स्कूल = पहचान अध्ययन:** स्कूलों को 'स्टेटस सिंबल' के रूप में देखने की सामाजिक मानसिकता।

संदर्भ सूची

प्रत्यक्ष उद्धरण (Direct Citations):

- 1. Acharya, D., & Shrivastava, A. (2008).** *Indigenous Herbal Medicines: Tribal Formulations and Traditional Herbal Practices*. Jaipur: Aavishkar Publishers.
- 2. Bray, M. (2009).** *Confronting the Shadow Education System: What Government Policies for What Private Tutoring?* Paris: UNESCO International Institute for Educational Planning.
- 3. National Council of Educational Research and Training. (2005).** *National Curriculum Framework 2005*. New Delhi: NCERT.
- 4. Kumar, A. (2014).** *English Medium System that is Angreji Raj* [Self-published Monograph].

अप्रत्यक्ष उद्धरण (Indirect Citations):

- 1. Bourdieu, P. (1986).** *The forms of capital*. In J. Richardson (Ed.), *Handbook of theory and research for the sociology of education* (pp. 241–258). New York: Greenwood.
- 2. Freire, P. (1970).** *Pedagogy of the Oppressed*. New York: Herder and Herder.
- 3. Macaulay, T. B. (1835).** *Minute on Indian Education*.

4. **Sen, A.** (1999). *Development as Freedom*. New York: Alfred A. Knopf.
5. **Soja, E. W.** (2010). *Seeking Spatial Justice*. Minneapolis: University of Minnesota Press.
6. **Vygotsky, L. S.** (1978). *Mind in Society: The Development of Higher Psychological Processes*. Cambridge, MA: Harvard University Press.